शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अगस्त : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, श्रावण वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ४

ज्ञान का बहुमान

जिसे श्रुतज्ञान का प्रेम हो अर्थात् आत्मा को समझने की दरकार हो, उसे उसके श्रवण में उत्साह होना चाहिये। उत्साह के बिना श्रवण करे तो वह परिणमित नहीं होता। श्रवण के समय लापरवाही ही रखे, उपयोग अन्यत्र भटकता हो या ऊँघे तो उसमें श्रुतज्ञान की अविनय होती है और उसकी समझ में श्रुतज्ञान नहीं आता। ज्ञान समझने के लिये उसका अत्यन्त बहुमान और विनय होना चाहिये। श्रवण करते हुए ''अहो! यह तो मेरे अपूर्व हित की बात है''—इस प्रकार अन्तर में उत्साह आना चाहिये।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१६०]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सम्यग्दृष्टि वैरागी है

सम्यक्ज्ञान पूर्वक ही सच्चा वैराग्य होता है; क्योंकि वैराग्य का सच्चा स्वरूप यह है कि —समस्त राग से विरक्त होकर चैतन्य-स्वभावोन्मुख परिणमन करना।—ऐसा वैराग्य ज्ञानी को ही होता है और वे कर्मों से मुक्त होते हैं।

जीव रक्त बाँधे कर्मने, वैराग्य प्राप्त मुकाय छे,

अे जिनतणो उपदेश तेथी, न राच तुं कर्मो विषे॥१५०॥

जो जीव, राग में रक्त है,—उसी में लीन है, वह कर्मों से बँधता है, और जो जीव, राग से भिन्न अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर उस स्वभाव-सन्मुख परिणमित हुआ है, वह राग से विरक्त है; अर्थात् वैराग्य प्राप्त है; इसलिये वह कर्मों से मुक्त होता है। सम्यक्दृष्टि गृहस्थदशा में हो, तथापि उसके अंतर में ऐसे वैराग्य का परिणमन सदैव वर्त ही रहा है।

स्वभाव में एकता, वह मोक्ष का कारण है और राग में एकता, वह बंध का कारण है,—ऐसा जिनवरदेव का उपदेश जानकर हे जीव! तू राग की रुचि छोड़कर उपयोग को स्वभाव में लगा, ताकि तेरी मुक्ति हो। [—प्रवचन से]

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

अगस्त : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, श्रावण वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ४

श्री पद्मनंदी आचार्य कृत श्री पद्मनंदी पंचविशतिका के देशव्रतोद्यन नामक अधिकार पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

देशव्रतोद्योतनम्

[प्र० भाद्रपद सुदी ३, शनिवार, ता० २०-८-५५]

(गतांक १५९ से चालू)

गाथा-१७

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयः।
ते तिष्ठंति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढ़॥
मत्वेदं गृहिणा यथार्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां।
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्॥१७॥

संसार से पार होने के लिए दान जहाज समान है, इसलिये यथाशक्ति दान देना चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि इस मनुष्यभव का मिलना अनन्त काल में दुर्लभ है। जैसे वृक्ष को जलाकर राख कर दी जाये और उस को नदी में बहा दें तो उस राख से वृक्ष उत्पन्न होने में बहुत समय लगे, उसी प्रकार यह मनुष्यभव दुर्लभ है, किन्तु इसे पाकर भी यह जीव, विकार से छूटने का प्रयत्न नहीं करता और घर में पाप कार्य किया करता है। जो पुरुषार्थ द्वारा सच्ची समझपूर्वक मुनि नहीं बने, वे मूर्ख हैं। अरे रे! मैं आत्मा हूँ, ऐसा विचार नहीं करता। आग लगने पर कुआं खोदना व्यर्थ है, इसलिए समय रहते विचार करना चाहिए। जिसे दान धर्म करने की रुचि नहीं उसे मोह ने बाँध रखा है। यहाँ 'मोह' शब्द से जड़ मोह कर्म नहीं समझना चाहिये, आत्मा अन्तरंग मोह भाव से बंधा हुआ है ऐसा समझना चाहिए, और अपनी शक्ति अनुसार दान करना चाहिए।

धर्मी जीव महापवित्र मुनियों को दान देते हैं किन्तु उन्हें फल की इच्छा नहीं है। जो दान नहीं देता, उसके घर का नाश-अन्त हो गया है। दूसरे देते हैं या नहीं—इसको नहीं देखकर अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। एक राजा ने एक लाख रुपया दान दिया और पीछे एक गरीब आदमी ने अपनी एकमात्र संपत्ति-साढ़े तीन आने मात्र दी। भले ही उसने साढ़े तीन आने दिये किन्तु उसकी तो सारी संपत्ति वही थी, इसलिए राजा ने उस गरीब का नाम सर्वप्रथम लिखाया। इसलिए भव्य जीवों को अनेक प्रकार से धर्म की वृद्धि के लिए दान देना चाहिए। जिसे धर्म के प्रति प्रेम हुआ हो, उसे धर्म की वृद्धि करने के लिए धन का उपयोग करना चाहिए क्योंकि उत्तम पात्र को दिया हुआ दान, संसाररूपी समुद्र में जहाज के समान है। संसार का अभाव करने की दृष्टिवाले को संसार का अभाव किए हुए देवादिक के प्रति प्रभावना का भाव आए बिना नहीं रहता। कोई अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए रुपया देता है तो वह आत्मा के लिए नहीं देता। अत: राग कम करने के लिए देव-गुरु-शास्त्रादि के हेतु दान देना चाहिए।

असली दाता सांसारिक कार्यों में मितव्ययता करता है किन्तु धार्मिक कार्यों में अपनी शक्ति नहीं छिपाता।

भावार्थ—दुर्लभ मनुष्य भव तथा ऊँचा कुल पाकर भव्य जीवों को मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, वह मूढ़ है। भव्य जीवों को मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अगर ऐसा नहीं कर सके तो अपनी शक्ति अनुसार दान देना चाहिए। वीतरागभाव की दृष्टिवाला केवलज्ञान के सन्मुख होता है। दान के बिना जीवन व्यर्थ नहीं करना चाहिए। सांसारिक कार्यों में मितव्ययता करनी चाहिए किन्तु धार्मिक कार्यों में मितव्ययता न रखकर उदारतापूर्वक देना चाहिए।

एक आदमी के पास कोई चंदा लेने गया। वह बीड़ी जलाकर आधी जली हुई माचिस की सींक बचाकर रख लेता था, वह इतना मितव्ययी था, इसलिए चंदा लेने गया, उसे ज्यादा मिलने की आशा नहीं थी। उस आदमी ने पूछा 'कि तुम मुझसे कितनी आशा रखते हो ?'

जवाब—जितनी आपकी इच्छा हो, उतना दे दीजिए। उस आदमी ने उसी समय दस हजार रुपया दे दिया; जबकि जानेवाला दो सो की आशा से गया था किंतु जब उसने दस हजार दिया, तब वह चकित हो गया। तो उस व्यक्ति ने खुलासा किया कि सांसारिक कार्यों में किफायत करनी चाहिए किंतु धार्मिक कार्यों में नहीं। धार्मिक कार्यों के लिए शक्ति अनुसार दान देना चाहिए अगर कोई नहीं दे तो उसे धर्म के प्रति अनुराग नहीं है।

'दाता छिपै नहीं घर याचक आए।' धार्मिक पुस्तकें छपाना आदि प्रभावना के कार्यों में दाता छिपता नहीं। 'रण चढ़े राजपूत नहीं छिपता।' इसीप्रकार दाता धार्मिक कार्यों के प्रसंग में छिपा हुआ नहीं रहता। धर्मात्मा शक्ति अनुसार पैसे का सदुपयोग करता है।

गाथा-१८

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्नस्मर्यते नार्च्यते।
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्॥
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावासमं।
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च॥१८॥

जो मनुष्य लक्ष्मी आदि का संयोग होते हुए भी भगवान के दर्शन नहीं करता और लोभी आढ़तिया तथा स्त्री-पुत्रों के दर्शन करता है, वह संसार में डूबता है।

''जिन प्रतिमा जिनसारखी भाखी आगम मांय।''

ऐसा पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं। जो जीव, त्रिलोकीनाथ परमात्मा के दर्शन नहीं करता, वह पापी है। व्यापारी सबेरे सबेरे डाक की प्रतीक्षा करता है किन्तु भगवान के दर्शन नहीं करता, उनका गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है। वह प्रातः उठकर समाचार पत्र पढ़ता है किन्तु आत्मप्रेमी भगवान का स्मरण करता है। विवाह आदि कार्यों में पुत्री पुत्र न आ सके तो गृहस्थी जीव याद करता है कि बीमार हो गया होगा। इसलिए लड़की नहीं आ सकी—'मेरी बेटी नहीं आई' ऐसे याद करता है। इसी प्रकार धर्मात्मा नियमित रूप से भगवान के दर्शन करता है। जो दर्शन, पूजा, गुरु सेवा, दान नहीं करता, उसका गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है; इसलिए देवपूजा, गुरुसेवा, दान आदि नित्य करने चाहिए।

जो जिनेन्द्र देव के दर्शन तथा दानादि नहीं करता, वह पत्थर की नाव के समान डूब जाता है।

'गृहस्थियों के व्रत का उद्योतन कैसे हो ?' यह प्रकरण चल रहा है। जो गृहस्थ होते हुए भी जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं करता, वह श्रावक नहीं है। जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रीति और रुचि हो गई है, उसे भगवान की अविद्यमानता में उनकी प्रतिमा के दर्शन करने का भाव आए बिना नहीं रहता। भगवान के दर्शन न करनेवाला गृहस्थ, संसाररूपी समुद्र में डूबता है। जिनके आत्मा के ज्ञानभावपूर्वक अंतरंग निर्ग्रंथता प्रकट हुई है और शरीर में पर वस्त्रादि नहीं है—ऐसे मुनि का यह कथन है कि गृहस्थ कैसा होता है ? यह मार्ग अनादिकालीन है। शरीर में रोग हो या उसकी

स्थिति खराब हो तो अलग बात है, किन्तु शरीर के अच्छा होते हुए भी जो भगवान की प्रतिमा का दर्शन आदि नहीं करता या कुदेवादि को मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

'जिनप्रतिमा जिन सारखी' ऐसा ज्ञानी कहते हैं। जिन्हें पवित्र आत्मा की दृष्टि प्राप्त हो गई है, वे भगवान की मूर्ति पर उनका निक्षेप करते हैं। भगवान वीतराग निर्ग्रन्थस्वरूप हैं, उन्हें पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हुआ है। प्रातःकाल उनके दर्शन कर पूजा करने का भाव धर्मात्मा को आए बिना नहीं रहता। जिसे ऐसा भाव नहीं आता, वह धर्मी नहीं है, उसके सामायिक आदि व्यर्थ हैं। जो सर्वज्ञ के अनन्त गुणों का स्तवन नहीं करता, वह धर्मी नहीं है। अहो! धन्य अवतार! आपने अंतिम शरीर धारण कर केवलज्ञान पाया; इसप्रकार बहुमान-विनय द्वारा जो उनकी ऐसी स्तुति नहीं करता या निर्ग्रंथ साधु को आहारदान करने का भाव नहीं करता, उस गृहस्थी का गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है। सर्वज्ञ के सनातन मार्ग में, जो दृष्टिपूर्वक दर्शन, पूजा नहीं करता, वह श्रावक नहीं कहलाता। वह गृहस्थ संसार की चौरासी लाख योनियों में भटकता है। वह अकेला ही पाप करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है। वह खाने, पीने, कमाने में लीन रहता है और उसके फलस्वरूप चार गतियों में भ्रमण करता है और अन्त में निगोद में भटकता है 'णमो लोए सव्वसाहूणम्' इसमें से 'लोए' शब्द तो पाँचों पदों में लागू होता है। मुनि बताते हैं कि साधु वह है, जिसे आत्मा का भान है, निर्ग्रंथदशा है। ऐसों के अतिरिक्त जो अन्य को साधु मानता है, वह संसार में भटक कर निगोद में जायेगा। जीव ने अनंत काल से सत्य बात नहीं सुनी। आचार्य भगवान कहते हैं कि जो अपने धन को पवित्र करना चाहते हैं, वे शुभरागपूर्वक देव-गुरु-शास्त्र या उनकी प्रभावना के लिए अपने धन का उपयोग करते हैं, उन्हीं को वास्तव में पवित्र करना है। अतः जिनेन्द्र देव की पूजा, स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों को दान अवश्य करना चाहिए।

आचार्य, दाता की महिमा बताते हैं:—

गाथा-१९

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरिभस्पर्शोपलाद्या भुवि।
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्॥
तैरत्रोपकृतं न केपुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते।
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते॥१९॥

जिनशासन की प्रभावना में दान देनेवालाा चिन्तामणि रत्न समान है: —

श्रीमद् राजचंद्रजी ने इस शास्त्र को 'वन शास्त्र' कहा है। सर्वज्ञ ने जैसा देखा, वैसा ही इसमें वर्णन किया है। इन्द्रिय दमन करके जो इस शास्त्र का अध्ययन करे तो उसके लिए यह अमृत तुल्य है।

चिन्तामणि रत्न की देव सेवा करते हैं, जिसके चिन्तवनमात्र से मकान आदि बन जाते हैं किंतु क्या उससे धर्म हो सकता है ? नहीं। कल्पवृक्ष से मनुष्य की आवश्यकता की वस्तुएँ मिल जाती हैं। कामधेनु गाय भी इच्छा करते ही दूर दे देती है, इन सबसे सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं किन्तु केवलज्ञान या सम्यकृज्ञान नहीं मिलता। पारसमणि के स्पर्श मात्र से लोहा, सोना बन जाता है। ऐसे अनेक उपकारी पदार्थ संसार में हैं—ऐसा सुना जाता है किन्तु साक्षात् उपकार करते नहीं देखा तथा कोई किसी का उपकार करे, यह संभव नहीं है किंतु चिंतामणिरत्न आदि के कार्य को करनेवाले दाता अवश्य देखने में आते हैं। आत्मप्रेमसहित देव-गुरु-शास्त्र की शोभावृद्धि के लिए मनवांछित दान देनेवाला दाता चिन्तामणि समान है। शास्त्र में लिखा है कि नवीन कमाई में से चतुर्थांश देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना के लिए दिया जाना चाहिए। पद्मनंदि आचार्य हजार वर्ष पहले हुए हैं, दिगम्बर जैनधर्म के स्तंभ हैं, परम्परा की रीति शास्त्र में बतलाते हैं कि ऐसे दाता देखने में आते हैं। लड़की के विवाह में दहेज में रुचिपूर्वक सोना, कपड़ा आदि दिया जाता है; उसी प्रकार धार्मिक कार्यों में खर्च करना चाहिए। जिसे धर्म के प्रति प्रेम है और धर्मार्थ धन देता है, उसे चिन्तामणि कहते हैं, उसे कल्पवृक्ष कहते हैं, उसे कामधेनु, पारस पत्थर कहते हैं। जिन्हें आत्मा का भान है किन्तु वर्तमान में केवलज्ञान नहीं हुआ है—ऐसे धर्मात्मा दान करते हैं तो उन्हें चिंतामणि समान कहा है। आत्मा की लगनवाले को धर्म प्रभावना की लगन हुए बिना नहीं रहती, आजकल कुछ लोग तो सत्य का विरोध करते हैं। इस सत्य बात के मानने से सम्प्रदाय में, कुटुम्ब में बाधा आयेगी, ऐसा माननेवाले धर्म के योग्य नहीं हैं। इसप्रकार इस गाथा में आचार्य ने दाता को चिंतामणि आदि कहा है।

गाथा-२०

यत्र श्रावकलोक एव वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो।
यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं सौख्यं
भाविनृणां ततो गुणावतांस्युः श्रावकाः सम्मताः ॥२०॥

धर्मात्मा धर्म प्रवृत्ति का निमित्त है, अत: धर्मात्म श्रावक का आदर करना चाहिए।

श्री पद्मनंदि आचार्य सनातन मार्ग के अनुसार कहते हैं कि उनके समय में वीतरागी प्रतिमावाले मन्दिर बहुत थे, उन पर वस्त्र आदि नहीं होते किन्तु जैसा माता ने जन्म दिया, वैसी ही भगवान की प्रतिमा के दर्शनार्थ धर्मी जीव अपने ग्राम में नगर में मन्दिर बनाते हैं।

''कहत बनारसी अल्प भव स्थिति जाकी।
सोई जिन प्रतिमा प्रवानै जिन सारखी॥''

जिसे अपने ज्ञान के स्वरूप का बोध हुआ है, वह पूर्ण ज्ञानवाले भगवान की अविद्यमानता में उनकी प्रतिमा बनाता है। जिस ग्राम, नगर में जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा नहीं है, वह ग्राम, नगर श्मशानतुल्य है। जहाँ जिनमन्दिर है, वहाँ मुनि, ब्रह्मचारी आदि के आने से शास्त्र-प्रवचन आदि होते हैं, जीव धर्म का श्रवण करके मननपूर्वक स्वाध्याय करे, और को करावे। यह शरीर तो नाशवान है—ऐसा विचार कर जो धर्म प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न करते हैं, उनके पाप नष्ट होते हैं। जहाँ संसारी सबेरे से शाम तक सांसारिक कार्यों में लगा रहता है, वहाँ धर्मात्मा धर्म की प्रवृत्ति में दत्त-चित्त रहता है। जो धर्मदृष्टिपूर्वक भगवान के दर्शन करते हैं, उनके पाप नष्ट होते ही हैं। आत्मभान बिना केवल दर्शन करने से पाप नष्ट नहीं होते। सत् प्राप्ति के इच्छुक, पूर्ण सत् को प्राप्त भगवान के दर्शन करते हैं। भगवान के दर्शन से निद्धत और निकांचित प्रकृति के उग्र बंधवाले कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। भगवान तीन काल और तीन लोक के साक्षी हैं; उन्हीं के समान मेरा स्वरूप भी तीन लोक का साक्षी है, ऐसी श्रद्धा करनेवाले ने अपूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। ऐसा सम्यग्दृष्टि बहुत से पापों का नाश करता है। धर्मात्मा, रागरहित होकर मोक्ष जाता है या स्वर्ग जाता है, इसलिए धर्मात्मा श्रावक का आदर-सत्कार करना चाहिए। संसार में रहनेवाले जिन भाई-बहनों को आत्मज्ञान हो गया है और धर्म के प्रति अनुराग हो गया है, वे सम्मान और श्रद्धा के पात्र हैं।

भावार्थ:-धर्मात्मा श्रावक अपने धन से जिनमन्दिर बनाते हैं। वहाँ मुनि भी दर्शनार्थ आते हैं, उन मुनियों के आगमन से श्रावकों को धर्म श्रवण का लाभ होता है। विद्याचरण (ऋद्धि धारक) मुनि को आकाश में जाते हुओं को, नीचे पृथ्वी पर जिनमन्दिर दृष्टिगोचर हो जाय तो वे नीचे उतर कर दर्शन करते हैं। धर्मात्मा को रागांश से स्वर्ग मिलता है और तत्पश्चात् वह रागांश भी समाप्त हो जाता है, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। श्रावक-श्राविकादि द्वारा धर्म की प्रवृत्ति होती है, इसलिए वे धर्म की वृद्धि के निमित्त हैं, अत: उनका आदर अवश्य करना चाहिए।

गाथा - २१

काले दुखमसंज्ञके जिनपते धर्मेगते क्षीणतां,
तुच्छे सामयिके जाने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्ति सहितो यः सोऽपि नो दृश्यते,
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः सवद्यः सताम्॥२१॥

इस काल में धर्मात्मा तथा धर्म प्रवृत्ति की दुर्लभता है।

अहो! दुषम काल-कलिकाल में त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव का सत्य मार्ग बहुत क्षीण हो गया है, इस मार्ग के विरुद्ध अनेक मार्ग हो गए हैं। आत्मभानवाले ज्ञान-ध्यान में लवलीन रहनेवाले मुनि इस काल में बहुत थोड़े हैं। एक हजार वर्ष पूर्व की बात कह रहे हैं। आत्मा आनन्दकंद है, अमृत के समुद्र समान है, सच्चे मुनि ऐसे स्वरूप में दृष्टि और ध्यान लगाए रहते हैं और सिंह के समान निर्भय वृत्ति से जंगल में विचरण करते हैं। किन्तु वर्तमान में वह मार्ग बहुत कुछ अंशों में लुप्त हो गया है और विपरीत मान्यता और अज्ञान के अंधकार का विस्तार हो गया है। जगत के प्राणियों का अधिकांश समय कमाने, खाने-पीने, भोगादि में चला जाता है और जो कुछ थोड़ा-सा समय बचता है, उसे साम्प्रदायिक कुगुरु लूट लेते हैं। मुनित्व क्या है? निश्चय क्या है? व्यवहार क्या है? इनका ज्ञान उन कुगुरुओं को नहीं है। ऐसे कुगुरुओं के पास जाने से धर्म नष्ट हो जाता है। कहीं हंस न हो किंतु सफेद बगुले हों तो वे हंस थोड़े ही माने जाते हैं? उसी प्रकार किसी का शरीर नग्न होने मात्र से वह भावलिंगी नहीं माना जा सकता और जिनके अन्य आचरण ठीक नहीं हों, उनका तो कहना ही क्या?

जो जीव भक्तिपूर्वक जिनमंदिर आदि बनाते हैं, वे वंद्य हैं।

पहले श्रावक, भगवान की प्रतिमा के प्रति भक्तिभाव रखते थे तथा भक्तिपूर्वक जिनमंदिर बनाते थे। किन्तु आजकल अपने निजी मकान बनाते समय ही बहुत ध्यान रखते हैं, पहले श्रावक लोग मंदिर, प्रतिमा आदि के निर्माणार्थ बहुत दान देते थे। प्रतिमा वीतरागी और शांत होनी चाहिए, जिसके दर्शन से अविकारी स्वरूप का भान द्रष्टा को हो। जो भव्य जीव इस समय में विधि अनुसार जिनमंदिर आदि का निर्माण कराते हैं, वे वंदनीय हैं। पहले के श्रावक-श्राविकाएं आदि धर्म के प्रति भक्ति रखते थे, किन्तु आजकल तो सिनेमा आदि देखने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। भगवान के दर्शन करते हुए ऐसा लगता है कि इन्द्र भी भगवान को नमस्कार करता था। समस्त उत्तम पुरुष भगवान की भक्तिसहित निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं।

गाथा-२२

बिम्बादलोन्नतिदेवोन्नतिमेव भक्त्या।
यैः कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृति वा॥
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता।
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य॥२२॥

जो आत्मभानपूर्वक जिनमंदिर का निर्माण कराते हैं, उनके पुण्य का वर्णन अगम्य है।

आचार्य कहते हैं कि जो जीव भक्तिपूर्वक कुन्दुक के पत्ते समान मंदिर बनाता है अर्थात् जिसे निर्ग्रंथदशावाली मूर्ति का भाव हुआ है, वह छोटा सा मंदिर और जौ जितनी प्रतिमा बनाता है, वह धन्य है। संसारी जीव अपने कुटुम्बियों की फोटो उतरवाने के लिए अच्छा फोटोग्राफर बुलाते हैं; उसी प्रकार यदि कोई वीतरागी प्रतिमा और मंदिर न बनावे तो उसे धर्म की रुचि नहीं है। तीन लोक के नाथ का प्रतिबिम्ब उनकी स्थिति के अनुकूल ही पूर्ण वीतरागतायुक्त होना चाहिए—वह शृंगारयुक्त न हो, अपितु शांत, वीतरागतायुक्त हो, ऐसी प्रतिमा और ऐसा ही मंदिर बनानेवाले को पुण्य प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक पदार्थ, पर की क्रिया कर सकता हो किन्तु यहाँ शुभराग का कथन है। जो अनुराग भाव से जिनमंदिर बनाता है, उसके पुण्य का वर्णन सरस्वती भी भली प्रकार नहीं कर सकती। जो धर्म प्रेम सहित लाखों रुपए खर्च करके जैनमंदिर और प्रतिमा बनाते हैं, उनको अनोखा पुण्य लाभ होता है। वे उस पुण्यजनित संयोगों को छोड़कर मुनि बन मुक्ति में जाएंगे। जिसे ऐसा प्रेम नहीं है, वह श्रावक नहीं कहला सकता। निश्चय दृष्टिवाले श्रावक को ऐसा भाव आए बिना नहीं रहता।

भावार्थ—बिम्बा पत्र तथा जौ की ऊँचाई बहुत थोड़ी है किन्तु आचार्य उपदेश देते हैं कि इस पंचमकाल में अगर कोई मनुष्य बिम्बा पत्र के जितनी ऊँची प्रतिमा भी बनाता है, उसके पुण्य की स्तुति साक्षात् सरस्वती देवी भी भली प्रकार नहीं कर सकती।

जिसे स्वभाव की दृष्टि हो गई है, वह जीव वीतरागी होगा, उसका क्या वर्णन किया जाय? परन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे मंदिर और प्रतिमाएं बनाता है, उसके पुण्य अगम्य है और साधारणजनों के लिए अकथनीय है। अतः भव्यजनों को पूर्ण वीतरागी शांत मुद्रायुक्त प्रतिमाएं तथा मंदिर उत्साह पूर्वक अवश्य बनाने चाहिए।

यह कथन इस काल के श्रावकों के लिए किया गया है कि उन्हें भक्तिपूर्वक वीतराग भगवान के मंदिर बनाने चाहिए।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[३१-३२]

एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति

[गतांक नं० १५९ से आगे]

धर्मात्मा ने निज शुद्धात्मद्रव्य का स्वीकार करके परिणति को उस ओर उन्मुख किया है, इसलिये उसका परिणमन प्रतिक्षण मुक्ति की ओर ही हो रहा है, वह मुक्तिपुरी का प्रवासी हुआ है; इसलिये ''अब मुझे अनंत संसार होगा ?'' ऐसी शंका उसे उठती ही नहीं। उसे भव का सन्देह दूर हो गया है और वह मोक्ष के पथ पर अग्रसर हुआ है। उसकी श्रद्धा का बल स्वोन्मुख हुआ है, उसके ज्ञान ने शुद्ध द्रव्य को स्वज्ञेय बनाया है, उसका पुरुषार्थ स्व द्रव्योन्मुख हो गया है; उसको कषायों का वेदन छूटकर आत्मा के शांतरस का वेदन हुआ है; इसप्रकार सम्पूर्ण परिणति में नई जागृति आ गई है... और वह जीव, भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ है।—ऐसी है... धर्मी की अपूर्व दशा!

ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनंत शक्तियाँ होने से वह अनेकान्तस्वरूप है, उसका यह वर्णन चल रहा है। तीस शक्तियों का वर्णन हो चुका है; अब एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति का वर्णन करते हैं।

''अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसे एक द्रव्यमयपनेरूप एकत्वशक्ति है।'' और ''एकद्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें—उन-मय-पनेरूप अनेकत्वशक्ति है।'' ज्ञानभाव आत्मा स्वयमेव ऐसी शक्तियोंवाला है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा कहीं पर में या विकार में व्याप्त नहीं है किन्तु अपने अनेक गुण-पर्यायों में एकरूप से व्याप्त है। धर्मी जानता है कि मेरी अनेक पर्यायों मे मेरा आत्मा ही व्याप्त है, कर्म या विकार मेरी पर्याय में व्याप्त नहीं हैं। विकार तो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है, उसमें ऐसी शक्ति

नहीं है कि बढ़कर समस्त पर्यायों में व्याप्त हो; आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है। ऐसा भान होना पर व्यापक-व्याप्य की एकता से (द्रव्य-पर्याय की एकता से) निर्मल पर्यायें ही होती हैं। अनेक निर्मल पर्यायों में व्याप्य होने पर भी, आत्मा स्वयं द्रव्यरूप से तो एक ही रहता है, द्रव्यरूप से कहीं स्वयं अनेक नहीं हो जाता—ऐसी उसकी एकत्वशक्ति है, और द्रव्यरूप से एक होने पर भी अनेक पर्यायोंरूप से भी स्वयं ही होता है—ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है। इसप्रकार एकपना तथा अनेकपना दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ हैं। उसमें 'एकत्व' वह द्रव्यार्थिकनय से है और उसके साथ ''अनेक पर्यायों में व्यापक''—ऐसा कहकर पर्याय भी बतलाई है। तथा दूसरे बोल में 'अनेकत्व' कहा, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है और उसके साथ ''एकद्रव्य से व्याप्य''—ऐसा कहकर द्रव्य को भी साथ ही रखा है। द्रव्य का लक्ष छोड़कर मात्र अनेकपना माने तो वह यथार्थ नहीं है। उसी प्रकार निर्मल पर्यायों से रहित मात्र द्रव्य को माने तो वह भी यथार्थ नहीं है। द्रव्य और निर्मल पर्याय उन दोनों का व्यापक-व्याप्यरूप से साथ ही साथ रखकर आचार्यदेव ने अद्भुत वर्णन किया है।

आत्मा, पर से और विकार से तो अतत् है; इसलिये उसमें वह व्याप्त नहीं है—वह बात पहले बतलाई; तो आत्मा कहाँ रहता है ?—कहते हैं कि अपनी अनेक निर्मल पर्यायों में रहता है। आत्मा फैलकर-विस्तार को प्राप्त होकर पर में व्याप्त नहीं होता किंतु अपनी पर्याय में व्याप्त होता है। यहाँ निर्मल पर्यायों की ही बात है। एक के बाद एक पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाये, तथापि वे सब पर्यायें आत्मा में ही अभेद होती हैं। अनेक पर्यायें होने से आत्मा की एकता नहीं टूटती। सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ में भी वही है और केवलज्ञान के समय भी वही है;—इसप्रकार अनेक निर्मल पर्यायोंरूप होने पर भी स्वयं चैतन्यस्वरूप से एक ही है। ज्ञानपर्याय में आत्मा, दर्शन में आत्मा, आनन्द में आत्मा, इसप्रकार अनन्त गुणों की पर्याय में विद्यमान होने पर भी ज्ञान का आत्मा भिन्न, दर्शन का आत्मा भिन्न और आनन्द का आत्मा भिन्न, इसप्रकार कहीं आत्मा का भिन्नत्व नहीं है; आत्मा तो एक ही है। ''जगत में सब मिलकर एक ही आत्मा (अद्वैत ब्रह्म) हैं'' यह बात मिथ्या है, उसकी यहाँ बात नहीं है। जगत में तो अनन्तानन्त जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का अपना आत्मा अपने अनंत-गुण पर्यायों में एकरूप से विद्यमान है तथा पर से भिन्नरूप है। पर में तेरा आत्मा नहीं है। इसलिये पर का लक्ष छोड़; देह में-वाणी में-मन में 'आत्मा' ऐसे शब्द में-कर्म में

या राग में कहीं तेरा आत्मा नहीं है, इसलिये उन सबका लक्ष छोड़; तेरे अनेक गुण-पर्यायों में तेरा आत्मा विद्यमान होने पर भी वह अनेकरूप से खण्डित नहीं हो गया है किंतु एकरूप ही रहा है, इसलिये अनेक के भेद का लक्ष भी छोड़कर द्रव्यस्वभाव की एकता का अवलम्बन कर। उस एकता के अवलम्बन से अनेक निर्मल पर्यायें होकर उस एकता में ही एकाकार हो जायेंगी।

अनादि से अकेली विकारी पर्याय हुई, उसमें सचमुच आत्मा व्याप्त ही नहीं हुआ है, क्योंकि विकारी पर्याय के साथ आत्मस्वभाव की एकता नहीं है। निर्मलपर्याय ही अन्तरोन्मुख होकर स्वभाव के साथ एकमेक होती है, इसलिये उसी में आत्मा व्यापक है। अहो! विकारी पर्याय में भी आत्मा विद्यमान नहीं है तो फिर शरीरादि जड़ में तो वह कहाँ से होगा? आत्मा, शरीर में विद्यमान नहीं है—यह बात सुनकर अज्ञानी तो भड़क उठते हैं कि "अरे! क्या आत्मा इस शरीर में नहीं है? तो फिर वह कहाँ रहता होगा? आकाश में रहता होगा?"—अरे भाई! शांत हो, शांत हो। शरीर भी जड़ है और आकाश भी जड़ है,—क्या आत्मा जड़ में रहेगा? या जड़ से भिन्न रहेगा? आत्मा, शरीर में नहीं है और आकाश में भी नहीं है, आत्मा तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनंत गुण-पर्यायों में ही विद्यमान है। भाई! तेरे गुण-पर्यायों से बाहर अन्य कहीं तेरा आत्मा नहीं है। जड़ शरीरादि में यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कभी रहता ही नहीं है, तो फिर आत्मा उन शरीरादि के कार्य करे-यह बात ही कहाँ रही?—वह तो गई अज्ञानी की भ्रमण में! अज्ञानी को भ्रम होता है कि हम यह खाना-पीना-बोलना करते हैं न! किन्तु भाई! तू यानी कौन? तू जड़ अथवा तू आत्मा? आत्मा, आत्मा में रहेगा या जड़ में? खाना-पीना-बोलना, वे क्रियाएँ तो जड़ शरीर में हाती हैं, वे जड़ के स्वभाव से होती हैं, तेरा स्वभाव तो ज्ञान है, तू तो उनका ज्ञाता ही है। जड़ की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि—अकेले रागादि विकार में ही आत्मा विद्यमान है—ऐसा अनुभव करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि ही है।

जिस प्रकार नारियल का गोला बाहर के छिलके में नहीं है और भीतर की छाल में भी नहीं है, नारियल का गोला तो सफेदी और मिठासरूप अपने स्वभाव में ही है, उसी प्रकार यह चैतन्य गोला भगवान आत्मा बाहर के छिलके जैसे इस जड़ शरीर में तथा भीतर की छाल जैसे रागादि विकार में भी नहीं है, चैतन्यमूर्ति आत्मा तो ज्ञान और आनन्दरूपी अपने स्वभाव में ही है। अकेली लाल छाल को खाकर ही उसे नारियल का स्वाद मानें तो वास्तव में उसने नारियल को जाना ही

नहीं। उसी प्रकार मात्र राग के अनुभव को ही जो आत्मा का स्वाद मानता है, उसने वास्तव में आनन्दमूर्ति आत्मा को जाना ही नहीं है। राग में-पुण्य में आत्मा का विस्तार नहीं है, राग से तो आत्मा का परिणमन संकुचित होता है। आत्मा का विकास और विस्तार तो अपनी निर्मल पर्याय में ही है। अकेला द्रव्य अपने अनंत गुण-पर्यायों के विस्तार में पहुँच जाता है तथापि, एकपना छोड़कर खण्डित न हो, ऐसी आत्मा की शक्ति है। ऐसे शक्तिवान आत्मा को जानना, सो अपूर्व धर्म है। ऐसे आत्मा को समझे बिना जो धर्म मनाता है—राग से धर्म मनाता है—वह अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनादर करता है, भगवान के मार्ग का अनादर करता है और भव-भ्रमण के मार्ग को आदरणीय मान रहा है।

कोई मारे या गाली दे, तथापि क्रोध न करना सो धर्म—ऐसी सामान्य मन्द कषाय में ही मूढ़ जीव धर्म मान लेते हैं, किन्तु उसमें चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनादररूप अनंत क्रोध है—उसकी उन्हें खबर नहीं है। "अरे, मेरे अशुभकर्म का उदय है, उसमें किसी दूसरे का दोष नहीं है"—इसप्रकार मात्र कर्म की ओट में क्षमा रखे, तो वह भी वास्तव में क्षमा नहीं है; उसने आत्मा का स्मरण नहीं किया, किन्तु कर्म का स्मरण किया-वही विपरीत दृष्टि है। अहो, मैं तो चैतन्यस्वभाव हूँ। क्रोध मेरे स्वभाव में है ही नहीं-ऐसा जिसे सम्यक्भान है, उसके अनंत क्रोध का नाश हो गया है। कदाचित् उसे किसी के प्रति क्रोध हो, तथापि वह क्रोध अनंतवें भाग अल्प है, और अज्ञानी कदाचित् क्रोध न करे, तथापि उसे विपरीत अभिप्राय में ही अनंत क्रोध की शक्ति भरी है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के अवलम्बन बिना धर्म हो ही नहीं सकता और दोष सचमुच दूर हो नहीं सकता।

शरीर में या राग में तो आत्मा नहीं है, निर्मल पर्याय हुई, उसमें आत्मा व्यापक है परन्तु उस एक पर्याय जितना ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं है; आत्मा में तो ऐसी अनंत पर्यायों में व्याप्त होने की शक्ति है।—ऐसे आत्मा पर धर्मी की दृष्टि लगी है, ऐसे आत्मा को श्रद्धा में लेकर उसी में पर्याय को एकाग्र किया है, और वही धर्मी का धर्म है। धर्मी अर्थात् आत्मद्रव्य और धर्म अर्थात् उसकी निर्मल पर्याय; धर्मी का धर्म उससे भिन्न नहीं है, धर्म धर्मी के साथ एकमेक है।

कहाँ रहते हो ?—तो कहते है दिल्ली में; उसी प्रकार यहाँ पूछते हैं कि कहाँ रहते हो ? तो धर्मी कहते हैं कि अपनी निर्मल पर्याय में; अपनी निर्मल पर्याय ही हमारी राजधानी है। जहाँ राजा रहता हो, उसे राजधानी कहते हैं और उस नगर पर किसी प्रकार का कर-भार नहीं होता—ऐसा

पुराने जमाने में था। उसी प्रकार यह चैतन्यराजा अपनी निर्मल पर्यायरूप राजधानी में रहता है और उस निर्मल पर्याय के ऊपर किसी प्रकार का कर अर्थात् विकार या कर्म का भार नहीं है। देश में या देह में तो आत्मा रहता ही नहीं है, तो फिर उसकी बात कहाँ रही ? स्वभाव में निर्मलपर्याय प्रगट करके उसमें आत्मा रहता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपर्याय हुई, उसमें आत्मा स्वयं व्याप्त है, किसी राग का-व्यवहार का विस्तार होकर सम्यग्दर्शन हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं विस्ताररूप होकर सम्यग्दर्शन में विस्तृत हुआ है। आत्मा की निर्मल पर्यायों में रागादि नहीं रहते, आत्मा की निर्मलपर्याय में आत्मा स्वयं ही रहता है। ऐसे आत्मा पर धर्मी की दृष्टि है। अकेली पर्याय के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है; किंतु पर्याय जिसमें से प्रगट हुई—ऐसे शुद्ध द्रव्य पर उसकी दृष्टि है; इसलिये वह दृष्टि और द्रव्य दोनों एकाकार हो गये हैं। सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त पर्यायों में अखंडरूप से एक आत्मा विद्यमान है, उस एक के आश्रय से ही अनेक निर्मल पर्यायें होती रहती हैं। बस! निर्मल पर्याय को उस एक का ही आश्रय है, उसके अतिरिक्त बाह्य में किसी अन्य का—राग का—निमित्त का अथवा देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय वास्तव में नहीं है; शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है, टिकता है और बढ़ता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार-राग या निमित्तों के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। अरे! मोक्षमार्ग की जो पर्याय है, उस पर्याय के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है; शुद्ध द्रव्य के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। आत्मा द्रव्यस्वरूप से एकरूप रहता है, तथापि अनेक निर्मल पर्यायोंरूप अनेकरूप भी स्वयं होता है। एकतारूप रहना तथा अनेकतारूप होना—यह दोनों स्वभाव एक आत्मा में विद्यमान है। सर्वथा एकरूप ही रहे तो एक पर्याय बदलकर दूसरी विशेष निर्मलपर्यायरूप से निर्मल कौन होगा ? और यदि सर्वथा अनेकरूप ही हो जाये तो पर्याय किसके आश्रय से होगी ? इसलिये आत्मा में एकत्व तथा अनेकत्व ऐसी दोनों शक्तियाँ हैं।

यदि एकत्वशक्ति न हो तो अनेक गुण-पर्यायों में वस्तु भी अनेक खंड-खंडरूप हो जायेगी; अर्थात् जितने गुण और पर्याय हैं, उतनी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हो जायेंगी, इसलिये अनंत गुण-पर्ययरूप वस्तु सिद्ध ही नहीं होगी; इसलिये अनंत गुण-पर्यायों में एकरूप से व्याप्त होकर रहनेरूप एकत्वशक्ति है, वह अनन्त गुण-पर्यायों में द्रव्य की अखंडता बनाये रखती है।

उसी प्रकार यदि अनेकत्वशक्ति न हो तो एक वस्तु में अनंत गुण-पर्यायें कहाँ से होंगी ?

वस्तु एक होने पर भी गुण-पर्यायें अनंत हैं। द्रव्यरूप से एक ही रहकर आत्मा स्वयं अपने अनंत गुण-पर्यायों में विद्यमान है, इसप्रकार अनेकता भी है।

एकपना अथवा अनेकपना—उन दोनों में पर से तो आत्मा भिन्न है और विकार से भी भिन्न है। एकपना तो द्रव्य से है और अनेकपना गुण-पर्यायों से हैं। पर के कारण वह धर्म नहीं है, इसलिये परोन्मुखता से एकता या अनेकता की पहिचान नहीं होती, एकतारूप या अनेकतारूप से आत्मा स्वयं ही है, इसलिये आत्मोन्मुखता से ही उसकी सच्ची पहचान होती है।

प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण, और उन अनंत गुणों की अनंत पर्यायें, उनमें आत्मा व्यापक है, इसलिये आत्मा में अनेकता भी है। पर्याय सो व्याप्य (रहनेयोग्य) है और आत्मा उसमें व्यापक (रहनेवाला) है। आत्मा को व्याप्त होनेयोग्य पर्याय एक ही नहीं है किंतु अनेक हैं, उन अनेक पर्यायोंरूप होता है; इसलिये आत्मा अनेकरूप है। स्वभाव के आश्रय से निर्मल क्रमबद्धपर्यायें एक के बाद एक होती हैं। वही आत्मा का सच्चा व्याप्य है; रागादि उसका सच्चा व्याप्य नहीं है और देहादि में तो आत्मा कभी व्याप्त हुआ ही नहीं है।

आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों में कौन व्याप्त होता है ? क्या उनमें निमित्त व्याप्त होता है ? नहीं; तो क्या राग उनमें व्याप्त होता है ? नहीं; तो क्या पूर्व की पर्याय उनमें व्याप्त होती है ? नहीं; शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं परिणमित होकर उन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों में व्याप्त होता है। इसलिये हे जीव! अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करने के लिये तुझे अपने शुद्ध आत्मा में ही देखना रहा—उसी का अवलम्बन करना रहा; किन्तु किसी निमित्त का, राग का या पर्याय का अवलम्बन नहीं रहा। तेरा एक आत्मा ही तेरी सर्व पर्यायों में प्रसरित हो जाता है—ऐसी ही उसकी शक्ति है; इसलिये अपनी पर्याय के लिये तुझे अन्य किसी द्रव्य की ओर देखना नहीं रहता; अपने स्वद्रव्य की ओर ही देखना रहता है। जो आत्मा का ऐसा स्वरूप समझ ले, उसे पर से पराङ्मुखता तथा स्वोन्मुखता द्वारा निर्मल पर्यायें होती हैं—वही धर्म है।

जिस प्रकार कड़ा-हार-मुकुट आदि सर्व अवस्थाओं में एक सोना ही क्रमशः व्याप्त होता है, किंतु उनमें कहीं सोनार, एरन या हथौड़ी व्याप्त नहीं होते; उसी प्रकार आत्मा की सर्व पर्यायों में एक आत्मा ही व्याप्त होता है, अन्य कोई उनमें व्याप्त नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों मिलकर कार्य करते हैं—ऐसा जो मानता है, वह एक पर्याय में अनेक द्रव्यों को व्यापक मानता है।

उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है। आत्मा की पर्याय में पर तो व्याप्त होता ही नहीं, किंतु जिस पर्याय में मात्र क्रोधादि व्याप्त हों, उसे भी आत्मा नहीं कहते। आत्मा की पर्याय तो उसी को कहते हैं, जिसमें आत्मा का स्वभाव व्याप्त हो। क्रोधादिभाव सचमुच आत्मा के स्वभाव से व्याप्त नहीं है।—ऐसे आत्मस्वभाव का जिसने निर्णय किया, उसकी पर्याय में आत्मा व्याप्त हुआ और क्रोधादि व्याप्त नहीं हुए। क्रोध में व्याप्त हो, वह मैं नहीं हूँ; शुद्धता में व्याप्त हो, वही मैं हूँ—ऐसा निर्णय करने पर क्रोध की ओर का बल टूट गया और शुद्धस्वभाव की ओर के बल में वृद्धि हो गई—ऐसी साधकदशा है, और वही मोक्षमार्ग है।

देखो, आत्मा की सम्यक् प्रतीति ऐसा फल लेकर प्रगट होती है। यदि ऐसा फल न आये तो आत्मा की सच्ची प्रतीति नहीं है। सम्यक् प्रतीति तो ऐसी है कि सम्पूर्ण भगवान आत्मा को पर्याय में प्रसिद्ध करती है। यदि पर्याय में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि न हो तो वहाँ सम्यक् प्रतीति नहीं है। मेरी समस्त शुद्ध पर्यायों में मेरा अपना द्रव्य ही व्याप्त होगा, मेरा आत्मा ही अनेक निर्मल पर्यायोंरूप से तन्मय होकर परिणमित होगा—ऐसा जिसने निश्चय किया, उसकी श्रद्धा का बल स्वद्रव्य की ओर ढल गया, उसके ज्ञान ने शुद्ध द्रव्य को स्वज्ञेय बनाया, उसका पुरुषार्थ स्वद्रव्य की ओर झुक गया, कषायों का वेदन छूटकर उसे आत्मा के शांत स्वभावों का वेदन हुआ। अनादि से पर्याय में अकेला विकार व्याप्त होता था, उसके बदले अब अपूर्व निर्मल पर्यायों में भगवान आत्मा व्याप्त हुआ,—इसप्रकार सम्पूर्ण परिणति में नई जागृति आ गई—नया वेदन आ गया;—ऐसी धर्मी की अपूर्व दशा है। पहले जब ऐसे शुद्धद्रव्य की खबर नहीं थी, उस समय पर्याय उस ओर नहीं ढलती थी और न उस पर्याय में आत्मा व्याप्त होता था, अब शुद्ध द्रव्य का निर्णय करके पर्याय उस ओर ढल गई और उस पर्याय में भगवान आत्मा व्याप्त हुआ—भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई, आत्मा कैसा है—उसकी सच्ची खबर हुई। वह जीव अब भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ—ऐसा भगवान का मार्ग है।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय अथवा सर्वज्ञ का निर्णय भी ऐसे शुद्ध द्रव्य के निर्णय से ही होता है। यद्यपि पर्याय तो पहले भी क्रमबद्ध ही होती थी किंतु अज्ञानदशा में उसका निर्णय नहीं था, शुद्ध द्रव्य के निर्णयपूर्वक क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति यथार्थ हुई और उसे शुद्धता का क्रम भी प्रारम्भ हो गया। शुद्ध द्रव्य की ओर ढलकर जहाँ क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करे, वहाँ अकेली अशुद्धता

का क्रम रहे—ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार शुद्ध द्रव्य का निर्णय, स्व-सन्मुख दृष्टि, सर्वज्ञ का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, शुद्ध पर्याय के क्रम का प्रारम्भ, अपूर्व पुरुषार्थ—यह सब एकसाथ ही है।

''मेरी पर्यायों में अन्य कोई नहीं, किन्तु मेरा शुद्ध आत्मा ही व्याप्त होनेवाला है''—अहो! इस निर्णय में तो सम्पूर्ण दृष्टि का परिवर्तन है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव अब कहीं भी पराश्रय बुद्धि में न रुककर एक स्वद्रव्य का ही अवलम्बन करके शुद्ध पर्यायोंरूप से परिणमित होता रहता है। मेरी जो-जो पर्याय प्रगट होती है, वह मेरे आत्मद्रव्य में से ही प्रगट होती है—ऐसा उसे सम्यक्-विश्वास हो जाने से पर्याय-पर्याय में उसको आत्मद्रव्य का ही अवलम्बन वर्तता है, और आत्मा का स्वभाव शुद्ध होने से उसके अवलम्बन द्वारा परिणमित होनेवाली पर्याय भी शुद्ध ही होती है। धर्मी को सर्व पर्यायों में आत्मा का ही अवलम्बन है। नियमसार में कहा है कि—

मुझ ज्ञान में आत्मा खरे, दर्शन चरित में आत्मा,
पचखाण में आत्मा ही, संवर योगमां भी आत्मा॥१००॥

धर्मी जानता है कि वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है। मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग में (शुद्धोपयोग में) आत्मा है;—यह सब पर्यायों की बात है। धर्मी की समस्त पर्यायें एक शुद्ध आत्मा को ही उपादेय करके परिणमित होती हैं, उसकी पर्याय में अन्य कुछ उपादेय नहीं है। चौथे गुणस्थानवाले धर्मी को भी ऐसी ही दृष्टि होती है। ऐसी दशा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती है और उनमें तेरा शुद्ध द्रव्य व्याप्त होता है, ऐसा जिसने निर्णय किया, उसके श्रद्धा-ज्ञान की परोन्मुखवृत्ति दूर होकर स्वोन्मुखवृत्ति हो गई और उसकी पर्याय के क्रम में निर्मलता प्रारम्भ हुई! यदि ऐसा न हो—रुचि न बदले और मात्र पर के ओर की सावधानी रहे—और कहे कि ''पर्याय तो क्रमबद्ध होती रहती है''—तो वह मात्र पर की ओट में क्रमबद्धपर्याय की बातें करता है, वास्तव में उसे क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का निर्णय नहीं हुआ है; यदि सच्चा निर्णय हो तो रुचि अवश्य बदल जाये।

अहो! आचार्यदेव ने प्रत्येक शक्ति के वर्णन में त्रिकाली स्वभाव और उसका शुद्ध परिणमन—यह दोनों साथ ही साथ बतलाये हैं। पर्याय में शुद्धशक्ति का स्वीकार होने पर

पर्याय भी उसी में एकाकार हो गई, इसलिये वह भी शुद्ध हुई। इसप्रकार अपूर्व भाव से आत्मा का स्वीकार होने पर अपूर्व धर्म हुआ। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा, वैसा ही उसने किया; इसलिये उसी ने वास्तव में सर्वज्ञ को माना है और उसने देव और शास्त्र को भी यथार्थरूप से माना है। भगवान ने जिस मार्ग से मुक्ति प्राप्त की, उस मार्ग में वह सम्मिलित हुआ; वह सर्वज्ञ का नन्दन हुआ, साधक हुआ, उसके भव का सन्देह दूर हो गया और वह मोक्षमार्ग में लग गया। ऐसी दशा के बिना देव-शास्त्र-गुरु का, क्रमबद्धपर्याय का, द्रव्य का, गुण का तथा अन्य किसी भी विषय का निर्णय सच्चा नहीं होता और यथार्थरूप से भव की शंका दूर नहीं होती। धर्मी को तो शुद्ध द्रव्य का स्वीकार हुआ है और परिणति उस ओर ढल गई है; इसलिये प्रतिक्षण मुक्ति की ओर ही परिणमन चल रहा है, वह मुक्तिपुरी का प्रवासी हुआ है इसलिये ''अब मुझे अनंत संसार होगा''—ऐसी शंका उसे नहीं होती। उसे स्वभाव के बल से ऐसी निःशंकता है कि अब अल्पकाल में ही मेरी मुक्त दशा विकसित हो जायेगी। आत्मा का चैतन्यस्वभाव आनन्दमय है, उस स्वभाव में भव नहीं है, शंका नहीं है, भय नहीं है, विकार नहीं है;—ऐसे स्वभाव का निर्णय करके जहाँ उसके सन्मुख परिणमन हुआ वहाँ भव नहीं रहता, शंका नहीं रहती, भय नहीं रहता, और न विकार रहता है; इसलिये धर्मी निःशंक है, निर्भय है, विकार तथा भव का नाशक है और शुद्धता का उत्पादक है, वह अल्पकाल में पूर्ण विकार का नाश और शुद्धता की उत्पत्ति करके मुक्ति को प्राप्त होता है।

एक आत्मद्रव्य में अनेक पर्यायमय होने की शक्ति है। द्रव्य अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त हो—ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है; इसलिये पर के कारण पर्याय हो, यह बात नहीं रहती। जो व्याप्त हो वह कर्ता; पर्याय में द्रव्य ही व्याप्त होता है, इसलिये द्रव्य ही अपनी पर्याय का कर्ता है। अनेक पर्यायों में व्याप्त होनेरूप अपनी शक्ति को पहचाने तो ''मेरी पर्याय का कारण पर होगा''—ऐसी मान्यता न रहे, किन्तु द्रव्य का आश्रय करके निर्मल पर्याय हो। अनेक पर्यायें होने पर भी मेरी समस्त पर्यायें मेरे एक आत्मा से ही व्याप्त हैं, अन्य किसी से व्याप्त नहीं है, ऐसा निर्णय करके हे जीव! पर्याय को अपने द्रव्य की ओर उन्मुख कर।

पर्याय का ऐसा स्वभाव है कि वह द्रव्य से व्यपित हो और द्रव्य का ऐसा स्वभाव है कि वह पर्यायों में व्याप्त हो। इसप्रकार ज्ञानपर्याय भी अपने द्रव्य से व्याप्त हो—ऐसा उसका स्वरूप है,

तथापि वह ज्ञानपर्याय अपने में व्यापक ऐसे आत्मस्वभाव को न देखकर, अकेले पर ज्ञेयों को ही देखे तो वह अज्ञान है, उसे वास्तव में आत्मा की पर्याय नहीं कहते; उसमें आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है। ज्ञानपर्याय किसकी है?—कहते हैं आत्मद्रव्य की। उस ज्ञानपर्याय को आत्म-द्रव्योन्मुख होकर उसका निर्णय करना चाहिये। वह न करके परोन्मुख होकर पराश्रय से हित मानता है, वह रागादि ही मैं हूँ—ऐसा मानता है तो उस ज्ञान ने अपना ज्ञानरूप कार्य नहीं किया, इसलिये वह ज्ञान मिथ्या हुआ। अपनी पर्याय को अपने आत्मा से व्याप्त न करके राग से ही व्याप्त की, तो उसे सचमुच आत्मा की पर्याय नहीं कहते। आत्मा की पर्याय तो उसे कहते हैं जिसमें आत्मा की व्याप्ति हो; आत्मा की प्रसिद्धि हो। और जब तक ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वद्रव्य का निर्णय न करे, तब तक पर का भी सच्चा निर्णय करने की शक्ति उस ज्ञान में नहीं होती, इसलिये ऐसे ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते, वह तो अज्ञान है।

मेरी पर्याय में मेरा अखण्ड द्रव्य व्यापक है—ऐसा निर्णय करने के बाद जो-जो पर्यायें होती हैं, वे सर्व पर्यायें त्रिकाली द्रव्य को साथ ही रखकर होती है अर्थात् प्रत्येक पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अवलम्बन वर्तता है, और त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शुद्ध पर्यायें होती जाती हैं। त्रिकाली तत्त्व के स्वीकार बिना-आश्रय बिना—पर्याय की निर्मलता नहीं होती, सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और सम्यग्ज्ञान के बिना निमित्त या व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

यहाँ ३२वीं शक्ति में बतलाना तो है अनेकता, किंतु उसके साथ 'एक द्रव्य व्याप्त...' ऐसा कहकर द्रव्यदृष्टि भी साथ ही रखी है। आचार्यदेव की शैली अत्यंत गंभीरतापूर्ण अद्भुत है! अनेक पर्यायें होने पर भी द्रव्य की एकता का अवलम्बन कभी नहीं छूटता, इसलिये निरन्तर निर्मल-निर्मल पर्यायें ही होती रहती हैं।—इसप्रकार साधक भूमिका से बात कही है। साधक की श्रद्धा 'एक स्वद्रव्य' की ओर ढली है; उसका ज्ञान 'एक स्वद्रव्य' की ओर ढला है; उसकी एकाग्रता भी 'एक स्वद्रव्य' की ओर ही है। इसप्रकार 'एक स्वद्रव्य' का अवलम्बन लेकर ही (-निज शुद्ध आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर ही) साधकदशा वर्त रही है। उसी के अवलम्बन से शुद्धता बढ़ते-बढ़ते पूर्ण शुद्धतारूप सिद्धदशा हो जायेगी।

मेरी समस्त पर्यायें मेरे एक द्रव्य से ही व्याप्त हैं—ऐसा निर्णय करनेवाले ने किसकी ओर देखकर वह निर्णय किया? क्या पर की, या विकार की, अथवा मात्र पर्याय की ओर देखकर वह

निर्णय किया है ? नहीं; उनकी ओर देखने से वह निर्णय नहीं हो सकता; किन्तु पर्याय को शुद्ध एकरूप द्रव्य की ओर उन्मुख करके निर्णय किया है कि—अहो ! मेरी पर्यायों में तो ऐसा आत्मद्रव्य ही व्याप्त है; पर में या विकार में व्याप्त हो, ऐसा ही मेरे आत्मद्रव्य का स्वरूप नहीं है, किंतु निर्मल पर्यायों में व्याप्त हो, ऐसा ही मेरे आत्मद्रव्य का सच्चा स्वरूप है। मेरा आत्मा पर में और राग में विद्यमान नहीं है; मेरा आत्मा तो उपयोग में विद्यमान है। अशुद्ध पर्याय में शुद्ध द्रव्य कैसे व्याप्त होगा ? अशुद्धता के साथ शुद्ध द्रव्य की एकता नहीं हो सकती; इसलिये राग में आत्मा नहीं आता। आत्मा की ओर ढलने में राग काम नहीं आता, राग का अभाव करके अन्तर्मुख उपयोग होने पर उसमें आत्मा आता है—आत्मा का अनुभव होता है। इसप्रकार इस एकत्वशक्ति अथवा अनेकत्वशक्ति द्वारा आत्मा का निर्णय करने पर, पर्याय स्वोन्मुख ही हो जाती है, और शक्तियों का शुद्ध परिणमन होकर एक आत्मा अपनी अनेक निर्मल पर्यायों में व्याप्त होता है। अज्ञानदशा में पर्याय में मात्र विकार व्याप्त होता था, वह अशुद्ध परिणमन था, और अब स्वाश्रय से शुद्ध परिणमन होने से पर्याय से सम्पूर्ण भगवान आत्मा स्वयं व्याप्त हुआ है—ऐसा अनेकान्त मूर्ति आत्मा की पहचान का फल है।

—यहाँ एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

ट्रस्टडीड की स्पष्टता

कुछ मुमुक्षुओं ने ट्रस्टियों से कहा था कि ट्रस्टडीड के सम्बन्ध में लिखित स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। ट्रस्टडीड के ऑथर्स (कर्ता) के तथा उसमें सम्मति देनेवालों के आशयों से ट्रस्टी परिचित थे। ट्रस्टडीउ बनने के पहले और बाद में जिसप्रकार अमल किया गया है और किया जा रहा है, उस पर से भी वह आशय तो स्पष्ट ही हैं; तथापि ट्रस्टडीड के ऑथर्स के और उसमें सम्मति देनेवालों के विचारों से भी ट्रस्टी परिचित हुए हैं और उन्हीं को ध्यान में रखकर यह स्पष्टता की जा रही है।

सोनगढ़ में संवत् १९९४ में श्री जैन स्वाध्याय मंदिर की स्थापना हुई; उस समय उसमें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव (दिगम्बर आचार्य) कृत श्री समयसार शास्त्र की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा की गई थी। तत्पश्चात् श्री दिगम्बर जैन मंदिर, श्री समवशरण तथा श्री मानस्तंभ की स्थापना दिगम्बर जैनधर्म के विधि-विधान अनुसार की गई है और प्रवचन मण्डप का नाम ''भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप'' रखा गया है।

आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी ने, जो कि संवत् १९९१ से पूर्व स्थानकवासी सम्प्रदाय में मुनिरूप में थे उन्होंने, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी संवत् १९९१ के दिन उस सम्प्रदाय का त्याग करके भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा (जो दिगम्बर जैनधर्म के नग्नदिगम्बर भावलिंगी महामुनिराज थे, उनके द्वारा) प्रतिपादित दिगम्बर जैनधर्म को स्वीकार किया और ब्रह्मचारी के रूप में परिवर्तित हुए। तत्पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित यथार्थ दिगम्बर जैनधर्म (-जिसका कि आत्मार्थी सत्पुरुष कानजी स्वामी द्वारा उपदेश हो रहा था) में श्रद्धा रखनेवाले मुमुक्षु उस उपदेश का विशेष लाभ ले सकें, इस हेतु श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का निर्माण कराया गया; तथा श्रद्धालु मुमुक्षुओं को विशेष लाभ प्राप्त हो सके इस हेतु से ''श्री सोनगढ़ जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट'' करने में आया था जिसके द्वारा अभी तक दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार हो रहा है।

उपरोक्तानुसार श्रद्धा रखनेवाले मुमुक्षुओं ने सोनगढ़ में तथा उनके अपने ग्रामों में भी श्री दिगम्बर जैनधर्म के पालन एवं प्रचार हेतु श्री दिगम्बर जिन मंदिरों की स्थापना की है और उनमें पूजादि उसी आम्नाय के अनुसार होती है।

पुनश्च, इन समस्त स्थानों पर श्री दिगम्बर जैनधर्म के मूलसंघ को मान्य जो शास्त्र हैं, उन्हीं को सत् शास्त्र माना जाता है और उन्हीं का उपदेश, वांचन, स्वाध्याय तथा पठन-पाठन होता है।

इससे स्पष्ट है कि इस ट्रस्टडीड में जहाँ-जहाँ ''श्री जैनधर्म के सिद्धान्त''—यह शब्द लिखे हैं, उनका अर्थ ''भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा प्रतिपादित श्री दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धांत'' ही होता है। तथापि निम्नानुसार विशेष स्पष्टता की जा रही है—

(१) ट्रस्टडीड कलम नं० १, २ तथा कलम नं० ३ के (A) और (B) के बीच तथा कलम नं० ५, ६, ८ और १७ में जहाँ-जहाँ ''श्री जैन स्वाध्याय मंदिर'' शब्द है, वहाँ-वहाँ ''श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर'' समझें।

(२) कलम नं० ५ में इस ट्रस्ट का नाम ''श्री सोनगढ़ दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट'' समझें।

(३) कलम नं० ६ में ''आत्मार्थी मुनि महाराज श्री कानजी स्वामी तथा उनकी आज्ञा में दूसरे मुनि विराज रहे हैं'' इन शब्दों के बदले ''श्री सोनगढ़ में आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी तथा उनकी आज्ञा में दूसरे ब्रह्मचारी आदि रहते हैं ?'' ऐसा समझें।

(४) कलम नं० ८ की दूसरी पंक्ति में ''श्री जैन धर्म के साधु महाराज तथा ब्रह्मचारी हैं'' उसके बदले ''भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित श्री दिगम्बर जैनधर्म में श्रद्धा रखनेवाले ब्रह्मचारी'' ऐसा समझें।

(५) ट्रस्टडीड कलम नं० ३-७-८ में जहाँ-जहाँ ''जैनधर्म के सिद्धांत-का सिद्धांत'' शब्द हैं वहाँ-वहाँ ''भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा प्रतिपादित श्री दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धांत-का सिद्धांत'' ऐसा समझें। कलम नं० ४ की प्रथम पंक्ति में ''श्री स्वाध्याय मंदिर'' शब्द हैं, उनके बदले ''श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर'' समझें।

(६) उपरोक्त स्पष्टीकरण के अनुसार ही सबकी अन्तर्भावना हार्दिक इच्छा एवं वृत्ति थी, इसलिये तदनुसार स्पष्टता की जा रही है। इसी अनुसार अभी तक अमल हुआ है, हो रहा है और भविष्य में करना है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित ''समाधिशतक''
पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर-वैराग्यप्रेरक
प्रवचनों का सार

[७]

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ कृष्णा ११, समाधिशतक गाथा ७-८-९]

यह समाधिशतक है; आत्मा को समाधि कैसे हो, वह इसमें बतलाते हैं। समाधि वह स्वाधीन है—आत्मा के आधीन है, बाह्य के आधीन नहीं है। देहादि से भिन्न अनंत ज्ञान-आनन्द सम्पन्न मेरा अस्तित्व है—ऐसे भानपूर्वक आत्मा में एकाग्रता रहे, उसका नाम समाधि है। किंतु देहादि से भिन्न आत्मा को भूलकर, शरीरादि परद्रव्यों को ही जो आत्मा माने, उसे बाह्य विषयों में से एकाग्रता छूटकर आत्मा में एकाग्रता नहीं होती; इसलिये उसे समाधि नहीं हो सकती। उसके आत्मा में तो असमाधि का तंत्र रहता है। मिथ्यात्वादि भाव, असमाधि है। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता से सम्यक्त्वादि भाव प्रगट हों, वह समाधि है।

बहिरात्मा जीव, इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान की प्रवृत्ति करता है; इसलिये उसका ज्ञान मात्र बाह्य पदार्थों में ही वर्तता है किन्तु आत्मज्ञान-सन्मुख होकर नहीं वर्तता; आत्मा से पराङ्मुख होकर, इन्द्रियों द्वारा मात्र देहादि पदार्थों को ग्रहण करके ''वही मैं हूँ''—ऐसा अज्ञानी मानता है। शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा तो उसे इन्द्रियों द्वारा भासित नहीं होता।

जीवस्वरूप का ज्ञान तो अतीन्द्रिय अंतर्मुखज्ञान से ही होता है; बहिर्मुख-इन्द्रियज्ञान से नहीं होता है। अज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता, परन्तु इन्द्रियों को ही ज्ञान का साधन मानता है; इसलिये इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होनेवाले इन देहादि को ही अपना स्वरूप मानता है। देहादि तो जड़ हैं, वे कहीं आत्मा नहीं हैं; आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। किंतु अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान द्वारा देह से भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता; इसलिये देह के अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व मानता है।

अज्ञानी को ऐसी भ्रमणा है कि शरीर की क्रियाएँ ही मानों आत्मा का कार्य हों! इन्द्रियों से ही मैं जानता हूँ, इसलिये इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं—ऐसी उसे भ्रमणा है। इसप्रकार अज्ञानी जीव अपने शरीर को ही आत्मा मानता है। तथा पर में भी देह को ही आत्मा मानता है। देह से भिन्न ज्ञानानन्द आत्मा को वह नहीं पहिचानता; इसलिये दूसरे आत्माओं को भी उस स्वरूप को नहीं जानता। स्वयं अपने आत्मज्ञान से पराङ्मुख वर्तता है और इन्द्रियज्ञान द्वारा मात्र बहिर्मुख प्रवृत्ति ही करता है, इसलिये अज्ञानी जीव, देहादि को ही आत्मा मानता है, देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को वह नहीं जानता।

देखो, अज्ञानी को बहिरात्मपना है। वह बहिरात्मपना कर्मादि पर के कारण नहीं है, किंतु स्वयं ही अपने आत्मा से विमुख होकर, इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों को ही ग्रहण करता है; इसलिये वह देहादि को ही आत्मा मानता है; इसलिये वह बहिरात्मा है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जाने तो उस अतीन्द्रियज्ञान द्वारा देहादि से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा का स्वसंवेदन हो और बहिरात्मपना दूर होकर अंतरात्मपना हो।

जो जीव, इन्द्रियों को ज्ञान का कारण माने, उसे इन्द्रिय-विषयों के पोषण का ही अभिप्राय है। इन्द्रियों के विषय अनुकूल हों तो इन्द्रियाँ पुष्ट रहें और इन्द्रियाँ पुष्ट हों तो ज्ञान अच्छा हो—ऐसा अज्ञानी मानता है; इसलिये वह इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है और इन्द्रियों द्वारा ही उसका ज्ञान प्रवर्तमान होने मात्र बाह्य विषयों में ही वह वर्तता है, इसलिये अंतर के चैतन्य विषयों को जानने के लिये उसका ज्ञान "अनुत्तीर्ण" है; चैतन्य को जानने की परीक्षा में वह ज्ञान अनुत्तीर्ण होता है। भले ही मेट्रिक आदि की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो, किंतु यदि चैतन्य को न जाना तो उसका ज्ञान अनुत्तीर्ण है—मिथ्या ही है। और अनपढ़ हो, लिखना-पढ़ना भी न आता हो, किंतु ज्ञान को अन्तर्मुख करके यदि चैतन्य विषय को ही जानता हो तो उसका ज्ञान उत्तीर्ण है, वह मोक्ष का कारण है। जो ज्ञान, मोक्ष का कारण हो, वही सच्ची विद्या है। इसके बिना चाहे जितनी लौकिक विद्या पढ़े ले तथापि आत्मविद्या में तो वह अनुत्तीर्ण ही है।

अरे! अपने चैतन्यतत्त्व को च्युत होकर, देहादि में ही आत्मबुद्धि से अज्ञानी जीव प्रतिक्षण भयंकर भावमरण कर रहा है। बाह्य विषयों में से सुख लेना चाहता है। किंतु उसमें तो अंतर का वास्तविक सुख भूल जाता है; इन्द्रियज्ञान द्वारा इन्द्रिय-विषयों को ही जानता है और उनमें से सुख लेना चाहता है, किन्तु उसमें तो अपने चैतन्यप्राण का घात होता है—आत्मा के आनन्द का हनन

होता है और दुःख होता है; उसका विचार भी अज्ञानी को नहीं है। चैतन्य के भान बिना व्रतादि भी यथार्थ नहीं होते है। चैतन्य-सन्मुख वृत्ति हुए बिना, बाह्य विषयों के त्यागरूप व्रत भी नहीं होते। चैतन्यस्वभावोन्मुखता के बिना अज्ञानी, व्यवहार से व्रतादि का पालन करे, तथापि वह इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में ही वर्तता है।

''आत्मा, देहादिक से भिन्न है''—ऐसा भले ही शास्त्रादिक से कहें, किंतु इन्द्रियों से और राग से ज्ञान माने तो वह जीव, देहादि को ही आत्मा मानता है; देह से भिन्न आत्मा को वह नहीं मानता है। देह से भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा, इन्द्रियों या राग द्वारा ज्ञान नहीं होता; अंतर्मुख होकर अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है और जो ऐसे आत्मा को जाने, उसी को चैतन्य के आश्रय से वीतरागी समाधि रहती है। देहादि की मूर्च्छा छोड़कर चैतन्य में सावधान हुआ, वही समाधि है ॥७॥

[८-९]

आत्मज्ञान से विमुख होने के कारण और इन्द्रियज्ञान द्वारा जानने से अज्ञानी जीव, देह से भिन्न अपने आत्मा को नहीं जानता; वह शरीर को ही आत्मा मानता है। दूसरों में भी उसी प्रकार मानकर आत्मा को ही मनुष्यादिरूप मानता है, यह बात अब आठवीं और नवमीं गाथा में कहते हैं—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यगंगस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा ॥८॥

नारकं नारकांगस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

देखो, यह अविद्वान जीव की मान्यता! जो अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानता और देहादि को ही आत्मा मानता है, वह भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ा हो, तथापि अविद्वान है-मूर्ख है-मिथ्यादृष्टि है। प्रथम ऐसा कहा है कि—ज्ञान को स्वोन्मुख करके जो अपने आत्मा को नहीं जानता, वह अपने शरीर को ही आत्मा मानता है। और इसप्रकार जो अपने में शरीर को ही आत्मा मानता है, वह दूसरों में भी मनुष्य-देवादि के शरीर को आत्मा ही मानता है;—ऐसा अब कहते हैं।

जो जीव, बाह्यदृष्टिवाला अविद्वान है, वह नरदेह में विद्यमान आत्मा को नर मानता है; उसी प्रकार तिर्यंच शरीर में विद्यमान आत्मा को तिर्यंच, देवशरीर में विद्यमान आत्मा को देव तथा नारक शरीर में विद्यमान आत्मा को नारकी मानता है; किंतु आत्मा तो उस शरीर से पृथक् अनंतानंत ज्ञानादि शक्ति सम्पन्न, स्वसंवेद्य, अचल स्थितिवाला है, उसे वह नहीं जानता। शरीर तो अल्प अवधिवाला जड़ है और आत्मा तो अखंड स्थितिवाला चैतन्य शक्ति सम्पन्न है; इसप्रकार अज्ञानी दोनों की भिन्नता को नहीं जानता। और इसप्रकार जो चिदानन्द शक्ति सम्पन्न आत्मा को जो नहीं पहिचानता, वह भले ही शास्त्र पढ़ा हुआ महान विद्वान माना जाता हो, तथापि सचमुच वह अविद्वान ही है; चैतन्य-विद्या की उसे खबर नहीं है।

आठ अंग से जगमगाता हुआ

सम्यक्त्वरूपी सूर्य

[सम्यक्त्वी के आठ अंग का अद्भुत वर्णन]

[समयसार गाथा २२९ से ३६ के प्रवचनों से]

- स्वभावोन्मुख दृष्टि होने पर नि:शंकतादि आठ गुणों से जगमगाता हुआ जो सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, उसका प्रताप आठों कर्मों को भस्म कर देता है।
- जीव को अन्तर में ऐसा लगना चाहिये कि अरे! मेरा क्या होगा? मेरा हित कैसे हो? सम्यग्दर्शन के बिना अनादि संसार में भटकते हुए बाह्य में कहीं मुझे शरण नहीं मिली, इसलिये अब अन्तर में अपनी शरण ढूँढूँ।
- ज्ञानी कहते हैं कि भाई! अन्तर में तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय है, वही तुझे शरणभूत है; ज्ञान-आनन्द से भरपूर चैतन्य निधान जिसने अपने अंतर में देखा, उसे पर की आकांक्षा कैसे होगी?

- अहो! आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रयमय पवित्र है, और यह मलिनता तो शरीर का स्वभाव है।
- धर्मी जानता है कि मेरे ज्ञायकभाव में मोह नहीं है, तो फिर उलझन कैसी? इसलिये वे धर्मात्मा अपने स्वभाव के पंथ पर उलझन में नहीं पड़ते।
- धर्मात्मा ने अन्तर्दृष्टि द्वारा रत्नत्रय गुणों को प्रगट करके दोषों का उपगूहन कर दिया है। धर्मी को अन्तर में अपने सिद्ध समान शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि है और उसी के प्रति भक्ति है।
- अपने आत्मा को दृढ़रूप से मोक्षमार्ग में स्थिर करना ही सच्चा स्थितिकरण है।
- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा में अभेदरूप से देखता है, इसलिये सम्यक्त्वी को उस रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है, रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग के प्रति उसे परम प्रीति-गाढ़ स्नेह होता है।
- धर्मी जीव अपने आत्मा को चैतन्य विद्यारूपी रथ में आरूढ़ करके ज्ञानमार्ग में परिणमित करता है—इसप्रकार वह जिनेश्वरदेव के ज्ञान मार्ग की प्रभावना करनेवाला है।
- अहो! ऐसा वीतरागी जैनमार्ग! वह लोक में प्रसिद्ध हो और लोग उसकी महिमा को समझें—ऐसा भाव भी धर्मात्मा को आता है।
- सम्यक्दृष्टि नि:शंकता आदि आठ अंगों से परिपूर्ण ऐसे सम्यक् दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र द्वारा समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष की साधना करता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को नि:शंकता आदि जो आठ चिह्न हैं, वे आठ कर्मों का नाश कर देते हैं। सम्यक्त्वी धर्मात्मा अंतरदृष्टि द्वारा निज रस से भरपूर ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप का नि:शंकरूप से अनुभवन करते हैं। ज्ञान के अनुभव में रागादि विकार को किंचित् एकमेक नहीं करते। नि:शंकरूप से ज्ञानस्वरूप का अनुभव समस्त कर्मों का नाश कर देता है।

ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा ही आठ कर्मों का नाश होता है। श्रद्धा में जहाँ परिपूर्ण चैतन्य - स्वभाव को रागादि से पार जाना, वहाँ फिर उस चैतन्यस्वभाव के अनुभव द्वारा ज्ञानी को प्रतिक्षण कर्मों का नाश ही होता जाता है और नये कर्मों का किंचित्मात्र बंधन नहीं होता।—इसप्रकार धर्मी को नियम से निर्जरा होती है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा अबन्धस्वभाव है; जहाँ उसके सन्मुख दृष्टि हुई, वहाँ ज्ञानी को बन्धन नहीं होता।

देखो, यह श्रद्धा की महिमा! स्वभाव-सन्मुख दृष्टि होने पर जो सम्यक्त्वरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित हुआ, उस सूर्य का प्रताप समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है। नि:शंकता, नि:कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना—इन आठ अंगोंरूपी किरणों से जगमगाता हुआ जो सम्यक्त्वरूपी उदय हुआ, उसके प्रताप द्वारा सम्यग्दृष्टि समस्त कर्मों को भस्म करके अल्पकाल में ही सिद्धपद को प्राप्त करता है। पूर्वकर्मों का उदय वर्तता होने पर भी दृष्टि के बल से सम्यग्दृष्टि को नये कर्मों का किंचित् बंध नहीं होता; किन्तु पूर्वकर्मों की निर्जरा ही होती जाती है। उदय है, इसलिये बंध होता है—यह बात तो कहीं उड़ गई। उदय के समय चिदानन्दस्वभाव के ओर की दृष्टि के बल से आत्मा उस उदय को खिरा देता है; इसलिये वह उदय उसे बंध का कारण हुए बिना झर ही जाता है। इस प्रकार ज्ञानी को स्वसन्मुख-परिणति के कारण कर्म की निर्जरा ही होती है और स्वसन्मुख-चारित्र बल द्वारा अल्काल में सर्व कर्मों का नाश करके वह सिद्ध पद को प्राप्त होता है।—ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूँ—ऐसी प्रतीति के बल से सम्यक्त्व को नि:शंकतादि आठ गुण होते हैं और शंकादि आठ दोषों का अभाव होता है; इसलिये उसे मिथ्यात्व संबंधी बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। सम्यक्त्वी के आठ अंगों का आचार्यदेव आठ गाथाओं द्वारा अद्भुत वर्णन करते हैं।

(१) सम्यग्दृष्टि का नि:शंकित अंग

यश्चचुरोपि पादान् छिनति तान् कर्मबन्ध मोहकरान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२२९॥

देखो, यह सम्यक्त्वी जीव का चिह्न! यह सम्यक्त्वी के आधार! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जानता है कि मैं तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हूँ, मेरे स्वभाव में बन्धन है ही नहीं; इस प्रकार अबंध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को बंधन की शंका नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में बंधन की शंका या भय हो, वह तो मिथ्यात्वभाव है, धर्मी को उसका अभाव है। कर्म और उस कर्म की ओर का भाव मेरे स्वभाव में है ही नहीं; मैं तो अबंधस्वभाव हूँ—ऐसी दृष्टि में धर्मी को नि:शंकता है; इसलिये उसे शंका कृत बंधन नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

देखो भाई! लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी यह वस्तु नहीं मिल सकती, यह तो अन्तर की वस्तु है। पैसा तो पूर्व पुण्य से प्राप्त हो जाता है, किंतु यह वस्तु तो पुण्य से भी नहीं मिल

सकती। पैसा और पुण्य दोनों से पार अंतर की रुचि और प्रतीति का यह विषय है। मैं तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमय हूँ, अन्य बंधभाव मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं,—ऐसी दृष्टि द्वारा अबंध परिणामरूप वर्तते हुए सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को बंधन होने की शंकारूप मिथ्यात्वादि का अभाव है। धर्मी जानता है कि मैं तीनोंकाल ज्ञायकस्वभाव हूँ; "मेरा ज्ञायकस्वभाव कर्म से आच्छादित हो गया"—ऐसी शंका उसे नहीं होती। कर्म बंध के कारणरूप मिथ्यात्वादि भावों का मेरे स्वभाव में अभाव ही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की नि:शंकता ही धर्म का साधन है। ज्ञायकस्वभाव की मुख्यता हुई, वहाँ अन्य साधनों में व्यवहार साधन का उपचार आया; किन्तु जहाँ ज्ञायकस्वभावोन्मुख दृष्टि नहीं है, वहाँ तो अन्य साधन को व्यवहार साधन भी नहीं कहा जाता।

जीव को ऐसा लगना चाहिये कि अरे! मेरा क्या होगा? मेरा हित कैसे होगा? अनादि संसार में कहीं बाह्य में शरण नहीं मिली, इसलिये अन्तर में अपनी शरण ढूँढूँ। क्या इसी स्थिति में रहना है? भाई, अंतर में तेरी शरण है, उसे पहिचान। तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय है और वही तुझे शरणभूत है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा ने अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को जानकर उसकी शरण ली है; उस स्वभाव की शरण में उसे कर्म-बन्धन होने की शंका ही नहीं है, इसलिये उसे बन्धन नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

चौथे गुणस्थान में विद्यमान सम्यक्त्वी को भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में नि:शंकता है; बंधनकर्ता मिथ्यात्वादि भाव मेरे स्वभाव में हैं ही नहीं; ऐसे भान में धर्मी को बंधन की शंका नहीं होती, इसलिये उसे शंकाकृत बंधन नहीं होता, किन्तु नि:शंकता के बल से पूर्व कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है।

(२) सम्यग्दृष्टि का नि:कांक्षित अंग

यस्तु न करोति कांक्षा कर्मफलेषु तथा सर्व धर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ॥२३०॥

मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ; ज्ञायकस्वभाव ही मेरा धर्म है, इसके अतिरिक्त कोई भी बाह्य धर्म मेरे नहीं हैं; कर्मों से और उनके फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ।—ऐसे अन्तरभान में धर्मी को किसी भी कर्म या कर्मफल की आकांक्षा नहीं है; उन सब को वह पुद्गल-स्वभाव जानता है और ज्ञायकस्वभाव से भिन्न सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा से वह रहित है। इसप्रकार धर्मी जीव नि:कांक्ष है;

इसलिये उसे कांक्षाकृत बंधन नहीं होता किंतु पूर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसी ज्ञान निधि जिसने अपने पास देखी है, उसे पर की कांक्षा कैसे होगी ? आनन्द से भरपूर चैतन्य ऋद्धि के निकट जगत की किसी भी ऋद्धि की ज्ञानी इच्छा नहीं करता। क्योंकि—

''सिद्धि-ऋद्धि-वृद्धि-दीसै घट में प्रगट सदा,
अंतर की लक्ष्मी सों अजाची लक्षपती है;
दास भगवन्त के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।''

सम्यक्त्वी जानता है कि अहो ! मेरे आत्मा की सिद्धि-ऋद्धि और वृद्धि सदैव मेरे घट में-अन्तर में है। ऐसी अन्तर की चैतन्य लक्ष्मी के लक्ष द्वारा वह अयाचक लक्षपती है; बाह्य सिद्धि-ऋद्धि की वह वांछा नहीं करता और वह जिनेन्द्र भगवान का सच्चा दास है तथा जगत से उदास है। ऐसा सम्यक्त्वी जीव सदैव सुखी हैं। अहा ! जिसके निकट इन्द्र का वैभव तो क्या ! किन्तु तीन लोक की 'विभूति' भी वास्तव में 'विभूति समान' (राख समान) है—ऐसी चैतन्य की अचिंत्य विभूति जिसने अपने अंतर में देखी, वह जीव बाह्य विभूति की वांछा किसलिये करेगा ?

चैतन्य की ऋद्धि के निकट धर्मी को जगत में किसी ऋद्धि की आकांक्षा नहीं है। जहाँ जीव -स्वभाव की प्रतीति हुई, वहाँ कंचन या पाषाण आदि सर्व को अजीव के धर्म जानने से धर्मी को उनकी कांक्षा नहीं होती। जगत में प्रशंसा हो या निन्दा हो, किन्तु धर्मी उससे अपना हित-अहित नहीं मानतो, इसलिये उन्हें तत्सम्बन्धी कांक्षा नहीं है; ज्ञायकस्वभाव की भावना में अन्य परभावरूप धर्मों की आकांक्षा ज्ञानी को नहीं होती। इसप्रकार सम्यक्त्वी जीव, जगत में सर्वत्र नि:कांक्ष है; इसलिये उसे पर की कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दु:ख मूल।

अरे जीव ! सुख तो तेरे चैतन्यस्वभाव में है, उस सुख को चूककर तू बाह्य पदार्थों से सुख लेने की वांछा क्यों करता है ? अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना को छोड़कर पर की इच्छा करना, वह दु:ख का मूल है। धर्मी को ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की भावना नहीं है। धर्मी को अस्थिरता की इच्छा होती है, उसकी उसे भावना नहीं है; उस इच्छा को वह अपने ज्ञायक

– स्वभाव से भिन्न जानता है। इसप्रकार इच्छा के अभाव के कारण उसे सर्वत्र निःकांक्षपना ही है और उससे उसे निर्जरा ही होती है; वांछा के अभाव के कारण कांक्षा कृत बंधन उसे नहीं होता।

(३) सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३१॥

मैं एक वीतरागी ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा जहाँ अंतरवेदन हुआ, वहाँ धर्मी को जगत के किसी पदार्थ के स्वरूप के प्रति ग्लानि नहीं होती। पदार्थ का ऐसा ही स्वभाव है—ऐसा जानकर धर्मी को उसके प्रति दुर्गंछा नहीं होती। मैं तो शांत ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसे ज्ञान वेदन में रहने से ग्लानि का अभाव होने से धर्मी को निर्जरा ही होती है, बंधन नहीं होता। किन्हीं रत्नत्रय के धारी मुनिराज का शरीर काला-कुबड़ा या मलिन हो तो वहाँ धर्मी को जुगुप्सा नहीं होती; वह जानता है कि अहो! आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रयमय पवित्र है, और यह मलिनता तो शरीर का स्वभाव है; शरीर ऐसे ही स्वभाववाला है।—इसप्रकार वस्तुस्वभाव का चिंतवन करनेवाले धर्मात्मा को दुर्गंछा—ग्लानि नहीं होती, इसलिये उसे ग्लानिकृत बंधन नहीं होता।

मैं तो ज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान में मलिनता नहीं है; तथा मलिन वस्तु को जानते हुए ज्ञान कहीं मलिन नहीं हो जाता; मलिनता को जानते हुए धर्मात्मा को ऐसी शंका नहीं होती कि मेरा ज्ञान ही मलिन हो गया है। वह तो ज्ञान का नित्य पवित्ररूप ही अनुभव करता है; इसलिये वास्तव में उसे दुर्गंछा-जुगुप्सा नहीं होती।

शरीर में क्षुधा-तृषा हो, रोग हो, छेदन-भेदन हो और लोहू की धारा बहे, वहाँ धर्मी उसे जड़ की अवस्था जानता है। अरे, मैं तो शाश्वत आत्मा हूँ, यह सब जड़ की अवस्था मुझसे भिन्न है—ऐसे सम्यक्भान में वर्तते हुए धर्मात्मा को संयोगीदृष्टि छूट गई है; इसलिये उसे पदार्थ के स्वरूप के प्रति द्वेष नहीं होता। अपनी अल्प सहनशीलता से किसी समय अरुचि का भाव हो आये, वह तो अस्थिरता जितना दोष है, किन्तु श्रद्धा का दोष नहीं है। देह से भिन्न आत्मा का जिसने निर्णय किया होगा, उसे देह की दुर्गन्धित अवस्था के समय दुर्गंछा-ग्लानि नहीं होगी; देह मैं नहीं हूँ, मैं तो आनन्द हूँ—इसप्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की सुगंध (भलीवासना) जिसे अपने में प्रविष्ट की होगी, उसे देह की दुर्गंछादि अवस्था के समय भी ज्ञान की एकता बुद्धि नहीं छूटेगी।

मेरे आत्मा की पवित्रता का पार नहीं है, मेरा आत्मा तो पवित्रस्वरूप है और यह देहादि तो

स्वभाव से ही अपवित्र हैं,—ऐसा जाननेवाले धर्मात्मा को कहीं परद्रव्य में दुर्गंछा नहीं होती; इसलिये चाहे जैसे मलिन आदि पदार्थों को देखकर भी वह पवित्र ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण में चाहे जैसे मलिन पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी वहाँ दर्पण को उनके प्रति दुर्गंछा नहीं होती; उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप स्वच्छ दर्पण में चाहे जैसे पदार्थ ज्ञात हों, तथापि दुर्गंछा-द्वेष करने का उसका स्वभाव नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करनेवाले ज्ञानी को दुर्गंछा का अभाव होने से बंधन नहीं होता, किंतु निर्जरा ही होती है।

(४) सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अंग

यो भवति असंमूढः चेतयिता संदृष्टिः सर्वभावेषु।
स खलु अमूढ़ दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३२॥

जिसे आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि हुई है, वह धर्मात्मा अनेक प्रकार की विपरीत बातें सुनकर भी उलझन में नहीं पड़ता; विपरीत युक्तियाँ सुनकर भी उसे अपने स्वरूप में उलझन या शंका नहीं होती। पूर्व के पंडित कुछ कहें, पश्चिम के कुछ कहें, उत्तर के कुछ कहें और दक्षिण के कुछ कहें—इसप्रकार अनेक विद्वान भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार से कहें तो वहाँ सम्यक्त्वी धर्मात्मा को उलझन नहीं होती कि यह सत्य होगा या यह! अनेक बड़े-बड़े विद्वान मिलकर विपरीत प्ररूपणा करते हों तो वहाँ धर्मी उलझन में नहीं पड़ जाते; किन्तु ज्ञानानन्दस्वभाव की जो दृष्टि हुई है, उसमें निःशंकरूप से वर्तते हैं। सम्यक्त्वी सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है। शास्त्रों में पूर्वकाल के तीर्थंकरों आदि का, दूरवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्र आदि का, महाविदेहादि क्षेत्रादि का तथा सूक्ष्म परमाणु आदि का वर्णन आता है; वहाँ धर्मी को शंका-उलझन नहीं होती कि यह कैसे हो सकता है ? मैं तो ज्ञायकभाव हूँ; ज्ञायकभाव में मोह ही नहीं है तो उलझन कैसी ? वह निर्मोहरूप से अपने ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करता है। जिस प्रकार लोक में चतुर व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिन समस्याएँ आ जाने पर भी उलझन में नहीं पड़ते, किंतु उन्हें हल कर लेते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा अपने स्वभाव के पंथ में उलझन में नहीं पड़ते; अनेक प्रकार की जगत की कुयुक्तियाँ आ जायें, तथापि वे अपने आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होते; किन्तु उनमें से अपना आत्महित ढूंढ़ लेते हैं। अस्थिरताजन्य उलझन कहीं श्रद्धा को दूषित नहीं करती, इसलिये श्रद्धा के विषय में तो उलझन का उन्हें अभाव ही है; ऐसी श्रद्धा के बल से धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है, बंधन नहीं होता। सर्व भावों के प्रति कहीं भी उन्हें विपरीत दृष्टि नहीं होती, इसलिये धर्मी की दृष्टि में उलझन का अभाव है।

जैसे—किसी साहूकार के पास लाखों-करोड़ों की पूँजी हो और कोई विरोधी व्यक्ति उसकी पेढ़ी पर लिख जाये कि 'यह व्यक्ति दिवालिया हो गया है'—इसप्रकार कदाचित् अनेक व्यक्ति मिलकर प्रचार करें, तथापि वह साहूकार उलझन में नहीं पड़ता, आकुलित नहीं होता; वह निःशंकरूप से जानता है कि मेरी सब पूंजी मेरे पास सुरक्षित है; लोग भले ही चाहे जैसा कहें किन्तु मेरा हृदय और मेरी पूंजी तो मैं ही जानता हूँ। इसप्रकार उस साहूकार को उलझन नहीं होती।

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा निःशंकरूप से जानता है कि मेरे चैतन्य की ऋद्धि मेरे पास मेरे अंतर में है; बाह्य दृष्टि लोग भले ही अनेक प्रकार से विपरीत कहें या निन्दा करें किन्तु धर्मी को अपने अंतर स्वभाव की प्रतीति में उलझन नहीं होती। लोग भले ही चाहे जैसा कहें किन्तु मेरे स्वभाव की प्रतीति का वेदन मैं करता हूँ; मेरे स्वभाव की श्रद्धा निःशंकरूप से सुरक्षित पड़ी है; मेरा वेदन-मेरे चैतन्य की पूंजी—तो मैं ही जानता हूँ; इसप्रकार धर्मी जीव को अपने स्वरूप में कभी उलझन नहीं होती; इसलिये मूढ़ता कृत बंधन उसे नहीं होता, किंतु निर्जरा ही होती है।

[इस लेख का शेष भाग अगले अंक में पढ़िये!]

जिज्ञासुओं के लिये स्वर्णावसर

आसोज सुद १५ तक के लिये कुछ ग्रन्थों के मूल्य में कमी

१- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जिसमें तत्त्वज्ञान के सुगम शैली से प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं। मूल्य ०-१९ नये पैसे। एकसाथ २५ बुक में १२॥) टका के हिसाब से कमीशन देंगे और १०० बुक मंगाने पर २५) टका कमीशन देंगे।

२- श्री समयसार प्रवचन भाग-३ हिन्दी ४॥) वाला अर्ध मूल्य में

३- भेद विज्ञानसार २) वाला अर्ध मूल्य में

४- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्राय: सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १-४५ पोस्टेजादि अलग। १० पुस्तक एक साथ लेने पर २५) प्रतिशत कमीशन और एक ग्रंथ में दस टका कमीशन देंगे। पोस्टेजादि अलग।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार। ४ - द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ। ६. वस्तुविज्ञान अंक, जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजी द्वारा प्रवचनों का सार है। ७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो, इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे। ५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्तपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय-प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

मंगानेवालों की संख्या बहुत होने से आगे से ग्राहक होनेवालों को प्रथम मिलेगा। ओर्डर शीघ्र भेज दीजियेगा। सुभीते के लिये मदनगंज से भी पुस्तक भेजी जावेगी।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।